गुजरात में जैनधर्म और जैन कला

डॉ. हरिहर सिंह

गुजरात जैनधर्म की मातृभूमि नहीं है। वहाँ किसी तीर्थंकर का जन्म नहीं हुआ है। तथापि इस क्षेत्र में जैनधर्म का प्रभाव अति प्राचीन काल से रहा है। जैन परम्परा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने सौराष्ट्र स्थित शत्रुंजयगिरि पर धर्मोपदेश किया था।[१] सौराष्ट्र के ही रैवतक गिरि (गिरनार) पर बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के तीन प्रमुख कल्याणक अर्थात् महाभिनिष्क्रमण, केवलज्ञान और निर्वाण सम्पन्न हुए थे।[२] इन स्थानों की धार्मिक पवित्रता के कारण यहाँ प्राचीन काल से कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ है, जिनके अवशेष आज भी विद्यमान हैं।

ऐतिहासिक काल में गुजरात सर्वप्रथम सम्भवतः उस समय जैनधर्म के सम्पर्क में आया जब जैनाचार्य भद्रबाहु मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (ई. पू. चौथी सदी का उत्तरार्ध) के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किये और अपने प्रवास काल में गिरनार की यात्रा की।[3] मौर्य सम्राट सम्प्रति जैन धर्मावलम्बी था। जैन परम्परा में उसका उसी प्रकार गुणगान किया गया है जिस प्रकार बौद्ध परम्परा में अशोक का। जिस प्रकार अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी उसी प्रकार सम्प्रति ने जैनधर्म के उत्थान में योगदान किया था।[४] उसने उज्जैन से शत्रुंजय तक की तीर्थयात्रा में एक जैनसंघ का नेतृत्व भी किया था जिसमें आचार्य सुहस्ति सहित ५००० श्रमण सम्मिलित हुए थे।[५]

प्रथम सदी ई. पूर्व में गुजरात में जैनधर्म का पर्याप्त प्रभाव था। कालकाचार्य-कथा में उल्लेख है कि इस काल में आचार्य कालक भड़ौच गये थे और वहाँ लोगों को जैनधर्म का उपदेश किये थे।[६] इस समय की एक अन्य घटना यह थी कि भड़ौच के प्रसिद्ध न्यायविद् आचार्य खपुट ने बौद्धों को एक धार्मिक वाद-विवाद में शिकस्त दी थी।[७]

गुजरात में जैनधर्म की विद्यमानता का निश्चित प्रमाण क्षत्रप काल से उपलब्ध होता है। क्षत्रप शासक जयदामन के पौत्र के जूनागढ़ शिलालेख (दूसरी सदी ई.) में उन लोगों का उल्लेख है जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और जरामरण से मुक्ति पायी।[८] 'केवलज्ञान' और 'जरामरण' जैन पारिभाषिक शब्द हैं और इनसे इस क्षेत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में जैनधर्म के प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। उपर्युक्त शिलालेख के जूनागढ़ के एक गुफा में प्राप्त होने तथा उसमें जैन परिभाषिक शब्दों के अंकन होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त गुफा में सम्भवतः किसी समय जैन श्रमण निवास करते थे। इस गुफा तथा जूनागढ़ के बाबा प्यारा की गुफाओं के जैन श्रमणों के लिए निर्मित होने की बात इससे भी पुष्ट होती है कि इनमें स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल, नन्दीपद कलश आदि महत्त्वपूर्ण जैन प्रतीकों का अंकन है।[९] ये सभी जैन प्रतीक कल्याणकारी माने जाते हैं तथा इनका अंकन मथुरा के जैन स्तूप के आयागपट्टों पर भी हुआ है।[१०] गुजरात में जैनधर्म का प्रभाव इससे भी परिलक्षित होता है कि जैन आगमों की माथुरी वाचना (सन् ३००-३१३ ई.) के समय नागार्जुन ने वलभी (सौराष्ट्र) में जैनागमों को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया।[११]

गुप्तकाल में वलभी जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र था। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार इसी स्थान पर वीर निर्वाण संवत् ९८० (४५४ ई.) अथवा ९९३ (४६७ ई.) में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जैन श्रमणों की एक संगीति बुलाई गई और जैनागमों को को लिपिबद्ध किया गया।[१२] जैनधर्म की विद्यमानता के पुरातात्त्विक प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं। अकोटा से प्राप्त और संप्रति बड़ौदा संग्रहालय में सुरक्षित कांस्य जैन मूर्तियाँ इसके सबल प्रमाण हैं।[१३] इनमें ऋषभदेव और जीवन्त स्वामी की मूर्तियाँ गुप्तकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। सभी मूर्तियाँ धोती एवं अलंकार पहने हैं। इनकी अनग्नता से इनके श्वेतांबर होने का संकेत मिलता है। सम्भवतः इस काल तक श्वेतांबर परम्परा यहाँ प्रभावशाली हो गयी थी।

वलभी के मैत्रक शासकों के राज्यकाल में जैनधर्म उन्नत अवस्था में था। शक संवत् ५३१ (६०९ ई.) में जैनग्रंथ विशेषावश्यकभाष्य की एक प्रति वलभी के एक जैन मन्दिर को भेंट की गई।[१४] इस काल की एक अन्य घटना यह थी कि नयचक्र के ग्रंथकर्ता मल्लवादी ने एक धार्मिक वादविवाद में बौद्धों को पराजित किया जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें 'वादी' की उपाधि प्रदान की गयी।[१५] जैन पट्टावलियों से भी इस काल में यहाँ जैनधर्म की विद्यमानता का संकेत मिलता है क्योंकि उनमें उल्लेख है कि वलभी के विनाश के समय जैन मूर्तियों को सुरक्षित स्थान पर रखने के लिए उन्हें श्रीमाल स्थानान्तरित किया गया तथा गंधर्ववादिवेताल शांतिसूरि ने इस दुर्दिन काल में जैनसंघ की रक्षा की।[१६] आचार्य मेरूतुंग ने उक्त जैन मूर्तियों के सोमनाथ एवं श्रीमालपुर स्थानान्तरित करने की घटना को चामत्कारिक ढंग से वर्णित किया है।[१७] शत्रुंजय माहात्म्य के रचयिता धनेश्वरसूरि वलभीनरेश शिलादित्य के सम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामयिक थे। धनेश्वरसूरि के प्रभाव से शिलादित्य ने जैनधर्म अंगीकार किया और उन्हीं की प्रेरणा से उसने बौद्धों को अपने राज्य से निष्कासित किया तथा तीर्थस्थानों पर अनेक जैन चैत्य स्थापित कराये।[१८] महूदी, लिलवादेव, वसन्तगढ़ और वलभी से प्राप्त कांस्य जैनमूर्तियों तथा ढांक की गुफा मूर्तियों से भी इस काल में जैनधर्म के प्रभावकारी होने का संकेत मिलता है।[१९]

नान्दीपुरी के गुर्जरराजाओं के शासनकाल में जैनधर्म ने पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की। जयभट प्रथम और दद्द द्वितीय ने 'वीतराग' और 'प्रशान्तराग' जैसे विरुद धारण किये।[२०] चूँकि ये विरुद जैन परम्परा के हैं अतः इन राजाओं पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह भी संभव है कि इन शासकों को ये विरुद जैन धर्मावलम्बियों द्वारा प्रदान किये गये हों क्योंकि इनका अपना धर्म सौर्य धर्म था।[२१] ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी की अकोटा की कुछ कांस्य जैन मूर्तियाँ भी जैनधर्म की उन्नत अवस्था की प्रतीक हैं।[२२]

गुजरात के चालुक्यों के शासनकाल में जैनधर्म के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं प्राप्त होती है लेकिन कर्नाटक में जैनधर्म काफी प्रभावशाली था तथा चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वितीय द्वारा इसे पर्याप्त प्रश्रय मिला।[२३] राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम, कृष्ण द्वितीय, इन्द्र तृतीय और इन्द्र चतुर्थ द्वारा जैनधर्म को समुचित प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वस्तुतः अमोघवर्ष हिन्दू की अपेक्षा जैन अधिक था। उसने आचार्य जिनसेन को अपना धर्मगुरु स्वीकार किया था। वह उनका इतना आदर करता था कि उनके स्मरण मात्र से ही वह अपने को कृत्यकृत्य समझता था। अनेक राष्ट्रकूट सामन्तशासक तथा अधिकारीगण भी जैनधर्मावलम्बी थे।[२४] सन् ८२१ ई. के एक शिलालेख में नवसारी में अवस्थित मूलसंघ की सेनसंघ शाखा, चैत्यलायतन और वसहिका का उल्लेख है।[२५] मूलसंघ दिगम्बर जैनसंघ की मूलशाखा है और सेनसंघ उसकी प्रशाखा।[२६] ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में दिगम्बर जैनधर्म अधिक प्रभावशाली था। इस काल की अकोटा की अनेक कांस्य जैन मूर्तियों[२७] से यहाँ श्वेताम्बर जैनधर्म का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

गुर्जर प्रतीहार शासक जैनधर्म के प्रति उदार थे। प्रभावक चरित के अंतर्गत बप्पभट्टि चरित में नागावलोग (नागभट द्वितीय) के जैनधर्म अंगीकार करने का उल्लेख है। उसमें यह भी उल्लेख है कि उसने मोदेरा और अणहिलपुर में जैनमन्दिरों का निर्माण कराया और शत्रुंजय एवं गिरनार की तीर्थयात्रा की।[२८] इस काल में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म के प्रभावकारी होने की बात वर्धमानपुर एवं दोस्तटिका में जैनमन्दिरों के अवस्थित होने से भी प्रमाणित होती है।[२९]

चापोतकटों के शासनकाल में जैनधर्म ने काफी प्रगति की तथा उसकी नींव अत्यन्त दृढ़ हो गयी। वनराज ने देवचन्द्रसूरि को अपना गुरु स्वीकार किया तथा जैनधर्म अंगीकार कर लिया।[30] शीलगुणसूरि के निर्देश पर तथा जैनधर्म के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उसने अपनी राजधानी अणहिलपाटक में पंचासर पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया।[31] जैनधर्म के प्रति उसके सम्मान का संकेत इस बात से भी मिलता है कि उसने चैत्यवासी जैन साधुओं की सलाह पर अचैत्यवासी साधुओं को राजधानी से निष्कासित कर दिया।[32]

चौलुक्य या सोलंकी काल में जैनधर्म अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। सोलंकी राजाओं ने जैनधर्म को यथोचित प्रश्रय प्रदान किया। सोलंकीवंश का संस्थापक मूलराज (लग० ९४१–९९६ ई०) शैव था परन्तु जैनधर्म के प्रति वह उदार था क्योंकि उसने युवराज चामुण्डराय को वरुणसर्मक (वर्तमान वदस्मा–मेहसाना) स्थित जैन मन्दिर के संरक्षणार्थ एक भूमिदान की अनुमति दी थी।[33] मूलराज ने अपनी राजधानी अणहिलपाटक में एक जैन मन्दिर का भी निर्माण कराया था।[34] संभवतः वडनगर के आदिनाथ मन्दिर का पीठ और वेदिबन्ध इसी के राजकाल में निर्मित हुए हैं।

मूलराज के बाद क्रमशः चामुण्डराज (ल० ९९६–१००९ ई.) और दुर्लभराज (ल० १००९–१०२३ ई०) सिंहासनारूढ़ हुए। हेमचन्द्र से ज्ञात होता है कि जैन सिद्धान्तों को भलीभाँति समझने के उपरान्त दुर्लभराज ने विद्वान् जैन श्रमणों का आदर-सत्कार किया और साथ ही साथ बौद्धों के एकान्तवाद का विरोध किया।[35] हेमचन्द्र के इस कथन का स्पष्टीकरण द्वयाश्रयकाव्य पर लिखित अभयतिलक की टीका में इस प्रकार किया गया है—दुर्लभराज ने जैन सिद्धान्तों का ज्ञान जिनेश्वरसूरि से प्राप्त किया और जब जिनेश्वरसूरि ने एक वादविवाद में बौद्धों के एकान्तवाद का खण्डन किया तो उसने भी बौद्ध सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान किया।[36] जिनेश्वरसूरि के पाण्डित्य से प्रसन्न होकर दुर्लभराज ने उन्हें 'खरतर' की उपाधि प्रदान की।[37] इस काल में कई जैन मन्दिर निर्मित हुए जिनमें आज केवल थान का जैन मन्दिर ही अवशिष्ट है।

दुर्लभराज का उत्तराधिकारी भीम प्रथम (ल० १०२३–१०६५ ई.) शैव धर्मावलम्बी था परन्तु उसने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं डाली। इसका सबसे प्रबल प्रमाण उसके दण्डनायक विमलशाह द्वारा निर्मित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आबू का विश्वविख्यात ऋषभदेव मन्दिर है जो आज भी विद्यमान है। इसी के शासन-काल का कुंभारिया का सुन्दर महावीर मन्दिर भी है।

सोलंकी नरेश कर्ण (लगभग १०६५-१०९३ ई.) के संबंध में इतना ही ज्ञात है कि उसने जैन साधु अभयतिलकसूरि को उनके गंदगी से रहने के कारण 'मलधारि' की उपाधि प्रदान की थी।[३८] संभवतः कुंभारिया का वर्तमान शांतिनाथ मन्दिर इसी समय बना।

सिद्धराज जयसिंह (लग० १०९३-११४३ ई.) के शासनकाल में जैनधर्म को बहुत प्रोत्साहन मिला। अपने पूर्वजों की तरह वह भी शैव था परन्तु जैनधर्म एवं जैनों के प्रति उसके मन में काफी सम्मान था। अभयदेवसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेम-चन्द्र, हेमचन्द्र मलधारि, वीराचार्य और इसी प्रकार अन्य जैनाचार्यों के प्रति वह मित्रवत् व्यवहार करता था।[३९] शान्तु, आशुक, वाग्भट, आनन्द, पृथ्वीपाल, मुंजाल और उदयन जैसे जैन उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे।[४०] उदयन की सहायता से उसने खंगार पर विजय प्राप्त की और 'चक्रवर्ती' की उपाधि ग्रहण की।[४१]

जयसिंह के शासनकाल से श्वेताम्बर जैनधर्म गुजरात का प्रमुख धर्म बन गया। प्रबन्धों के अनुसार उसके ही दरबार में दिगम्बरों एवं श्वेताम्बरों का एक बहुचर्चित वाद-विवाद सम्पन्न हुआ। इस वाद-विवाद में श्वेताम्बर आचार्य देवचन्द्र-सूरि ने दिगम्बर आचार्य कुमुदचन्द्र को परास्त किया जिसके परिणामस्वरूप दिग-म्बरों को गुजरात छोड़ना पड़ा।[४२] दिगम्बरों पर श्वेताम्बरों के प्रभुत्व का संकेत इस बात से भी होता है कि एक ओर जहाँ श्वेताम्बर मन्दिर एवं अभिलेखों की बहुतायत है वहीं दूसरी ओर दिगम्बरों के पुरातात्त्विक अवशेष नगण्य हैं।[४३]

जयसिंह के राज्यकाल में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। परन्तु इनमें केवल कुंभारिया के पार्श्वनाथ और नेमिनाथ मन्दिर, गिरनार का नेमिनाथ मन्दिर और सेजाकपुर का जैन मन्दिर ही आज विद्यमान हैं।

जयसिंह ने जैन मन्दिरों का निर्माण कराकर[४४] तथा गिरनार एवं शत्रुंजय जैसे जैन तीर्थों की यात्रा कर जैनधर्म को पर्याप्त संरक्षण भी प्रदान किया। इतना ही नहीं, चौदहवीं सदी की एक प्रशस्ति में उल्लेख है कि उसने जैनधर्म स्वीकार कर यह आदेश जारी किया कि उसके राज्य के एवं अन्य स्थानों के जैन मन्दिरों पर स्वर्ण कलश एवं पताका लगाये जायें तथा प्रतिवर्ष पवित्र दिवसों पर पशुबध न किये जायें।[४५] परन्तु पुष्ट प्रमाण के अभाव में यह निष्कर्ष निकालना कि जयसिंह बिलकुल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन हो गया था, उचित नहीं है, क्योंकि एक अवसर पर उसने जैन मन्दिरों पर पताका फहराने की मनाही कर दी थी।[४६]

कुमारपाल (लग० ११४३–११७२ ई०) के गद्दी पर बैठने पर जैनधर्म अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। वह जैनधर्म का सबसे प्रबल पोषक था। उसने गुजरात में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसी की उदारता का परिणाम था कि गुजरात श्वेताम्बर जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र हो गया।

अपने प्रारम्भिक जीवनकाल में कुमारपाल शैव था परन्तु कालान्तर में वह जैन हो गया। आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने 'परमार्हत' विरुद धारण किया।[४७] जैनधर्म में उसकी आस्था अपनी पराकाष्ठा पर उस समय पहुँची प्रतीत होती है जब उसने जैनधर्म के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के परिपालन करने की खुलेयाम उद्घोषणा की। हेमचन्द्रकृत द्वयाश्रयकाव्य में उल्लेख है कि उसने 'अमारि' की घोषणा की।[४८] 'अमारि' सम्बन्धी साहित्यिक उल्लेख का समर्थन कुमारपाल के सामन्तों के अभिलेखों से भी होता है। सन् ११५२ के किराडु शिलालेख के अनुसार महाराज आल्हणदेव ने यह आदेश जारी किया कि शिवरात्रि तथा प्रत्येक पक्ष के अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी के दिन पशुबध न किया जाय।[४९] कुमारपाल के शासनकाल के एक अन्य अभिलेख के अनुसार पूर्णपाक्षदेव ने यह आदेश जारी किया कि अमावस्या तथा अन्य शुभ दिनों पर पशुबध न किया जाय।[५०] यद्यपि कुमारपाल के अपने अभिलेखों में 'अमारि' की कहीं भी चर्चा नहीं है तथापि यह आंशिक उद्घोषणा नहीं थी क्योंकि हेमचन्द्र ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि हिन्दू देवी-देवताओं को भी पशुबलि न की जाय।[५१] उत्तरकालीन प्रबन्धों से भी इस बात की पुष्टि होती है क्योंकि उनमें उल्लेख है कि दुर्गापूजा के अवसर पर पशुबलि न की जाय।[५२] आखेट पर भी निषेध लागू किया गया था।[५३] इतना ही नहीं, कुमारपाल ने पुत्रहीन व्यक्तियों की सम्पत्ति के अधिग्रहण की मनाही कर दी थी[५४] तथा सुरापान, जुआ खेलने और कपोत एवं कुक्कुट की लड़ाई में बाजी लगाने पर पाबन्दी लगा दी थी।[५५]

उपर्युक्त घोषणाओं के अतिरिक्त कुमारपाल ने स्थान-स्थान पर जैन मन्दिरों का निर्माण कराकर भी जैनधर्म को पोषण प्रदान किया। हेमचन्द्र ने अपने द्वयाश्रय-काव्य में कुमारपाल द्वारा निर्मित केवल दो ही जैन मन्दिरों का उल्लेख किया है; इनमें एक अणहिलपाटक में और दूसरा देवपट्टन में अवस्थित था, दोनों ही मन्दिर पार्श्वनाथ के थे।[५६] परन्तु हेमचन्द्र ने अपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में उल्लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है कि प्रायः सभी गाँवों में जैन मन्दिर थे।[५७] प्रभावकचरित में अणहिलपाटक स्थित कुमारविहार के उल्लेख के अतिरिक्त यह भी वर्णन है कि कुमारपाल ने अपने ३२ दाँतों के प्रतिशोधरूप ३२ विहारों का निर्माण करवाया, अणहिलपाटक के त्रिभुवनविहार में नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित करवाई, शत्रुंजय पर एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया तथा प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों पर जैन मन्दिर बनवाये।[५८] मेरुतुंग ने तो उसे १४४० जैन मन्दिरों का निर्माणकर्त्ता कहा है।[५९] कुमारपाल ने शत्रुंजय और गिरनार जैसे पवित्र जैन तीर्थस्थानों की यात्रा भी की थी।[६०] कुमारपाल द्वारा निर्मित तारंगा का अजितनाथ मन्दिर आज भी विद्यमान है। इस मन्दिर की विशालता एवं सुरुचिपूर्ण कलाशैली से भी जैनधर्म की सुदृढ़ स्थिति का संकेत मिलता है। गिरनार के नेमिनाथ मन्दिर की देवकुलिकाएँ, सरोत्रा का बावनध्वज जिनालय और भद्रेश्वर का जैन मन्दिर भी इसी समय निर्मित हुए हैं।

कुमारपाल के बाद उसका पुत्र अजयपाल गुजरात का शासक हुआ जो एक कट्टर शैव था। उसने न केवल जैनों को यातनाएँ दीं अपितु उनके मन्दिर भी तोड़वा डाले।[६१] अजयपाल की इन विनाशकारी प्रवृत्तियों के बावजूद जैन धर्म फूलता-फलता रहा तथा उसे वस्तुपाल, तेजपाल, जगडू आदि वणिक मन्त्रियों द्वारा पर्याप्त पोषण मिला। वणिक् मन्त्रियों में वस्तुपाल-तेजपाल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जैन परम्परा के अनुसार इन्होंने अनेक जैन मन्दिर बनवाए।[६२] अभिलेखीय प्रमाण से भी इसका समर्थन होता है। एक अभिलेख में उल्लेख है कि १२१९ ई. तक वस्तुपाल-तेजपाल ने शत्रुंजय और अर्बुदाचल जैसे पवित्र तीर्थ स्थानों पर तथा अणहिलपुर, भृगुपुर, स्तंभनकपुर, स्तंभतीर्थ, दर्भावती, देवलक्क आदि महत्त्वपूर्ण नगरों में एक करोड़ मंदिर बनवाये तथा बहुत से पुराने मन्दिरों के जीर्णोद्धार करवाए।[६३] यद्यपि यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है परन्तु इसमें किंचित् सन्देह नहीं है कि उन्होंने अनेक मन्दिर बनवाए। वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा निर्मित जैन मन्दिर आज भी गिरनार और आबू में दर्शनीय हैं। इन सुन्दर जैन मन्दिरों के निर्माण एवं उनके आज तक सुरक्षित रहने के कारण वस्तुपाल-तेजपाल के नाम गुजरात में आज भी बहुत आदर के साथ लिए जाते हैं। वस्तुपाल की जैन-धर्म के प्रति गहरी आस्था इस बात से भी प्रकट होती है कि उसने शत्रुंजय और गिरनार की तीर्थयात्रा की[६४] तथा अणहिलपुर, स्तम्भतीर्थ और भृगुकच्छ में जैन भण्डारों की स्थापना की।[६५]

जब सन् १२४२ ई. में चौलुक्य शासन का अन्त हुआ तो शासन की बागडोर वाघेलों ने सम्भाली। वाघेलों के राजकाल में जगडूशाह ने जैन मन्दिरों का निर्माण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करा कर तथा जैन तीर्थों की यात्रा कर वस्तुपाल-तेजपाल की धार्मिक प्रवृत्तियों का सिलसिला जारी रखा।[६६] परन्तु उनकी सबसे बड़ी देन उसकी दानशीलता थी जो उसने १२५६-५८ ई. के दौरान गुजरात में पड़े भयंकर अकाल के समय मानव-कल्याण हेतु किया था।[६७] उसके इस कार्य से, जिसमें उसे एक जैन साधु से प्रेरणा मिली थी, जैन धर्म की स्थिति काफी मजबूत हुई होगी। पेथड नामक एक अन्य जैन वणिक् ने भी जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था।[६८] मियाणी एवं कंथकोट के जैन मन्दिर इसी काल में निर्मित हुए हैं।

इस प्रकार १३वीं सदी तक गुजरात श्वेताम्बर जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। इस काल के सभी जैन मन्दिर श्वेताम्बर परम्परा के हैं और उनमें किसी-न-किसी तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित की गई है। सोलंकी राजाओं के पर्याप्त संरक्षण प्रदान करने से तथा वहाँ की जनता द्वारा समुचित पोषण मिलने से श्वेताम्बर जैन धर्म आज भी गुजरात में एक प्रमुख धर्म के रूप में विद्यमान है।

सन्दर्भ :

१. हेमचन्द्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, भाग १, अंग्रेजी अनुवाद--जान्सन, एच. एम., बड़ौदा, १९३१, पृ. ३५६।

२. वही, भाग ५, बड़ौदा, १९६२, पृ. २६२, २६५ एवं ३१३; उत्तराध्ययनसूत्र, अंग्रेजी अनु.--हर्मन जकोबी, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग ४५, आक्सफोर्ड, १८९५, पृ. ११५।

३. जैन, का. प्र. 'श्री निर्वाणक्षेत्र गिरनार', जैन एंटीक्वैरी, भाग ५, संख्या ३, पृ. १८४।

४. स्टीवेंशन, एस., हर्ट आफ जैनिज्म, लंदन, १९१५, पृ. ७४।

५. जैन, का. प्र., उपर्युक्त, पृ. १९०; जैन, कै. चन्द्र, जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर, १९६३, पृ. ८।

६. बाऊन, डब्ल्यू. एन., दी स्टोरी आफ कालक, वाशिंगटन, १९३३, पृ. ६६।

७. स्टीवेंशन, उपर्युक्त, पृ. ७७-७८; शाह, सी. जे., उत्तर हिन्दुस्तानमां जैन धर्म, बम्बई, १९३७, पृ. १७२।

८. सरकार, डी. सी., सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, भाग १, कलकत्ता, १९४२, पृ. १७७।

९. बर्जेस, जे., एंटीक्विटीज आफ काठियावाड एण्ड कच्छ, वाराणसी, १९६४, प्लेट १७, चित्र ३।

१०. स्मिथ, वी. ए., जैन स्तूप एंड अदर एंटिक्विटीज आफ मथुरा, वाराणसी, १९६९, प्लेट ७, ९ और ११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. कल्याणविजय, वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, जालोर वी. सं. १९८७, पृ. ११०; कापड़िया, एच. आर., हिस्ट्री आफ कैनोनिकल लिटरेचर आफ दी जैनस्, सूरत, १९४१, पृ. ६१-६२।

१२. जकोबी, हर्मन, जैन सूत्रस, खण्ड १, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग २२, आक्सफोर्ड, १८८४, इंट्रोडक्शन पृ. ३७; देसाई, मो. द., जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३, पृ. १४२।

१३. शाह, यू. पी., अकोटा ब्रान्जेस, बम्बई, १९५९, पृ. २६-२८।

१४. जिनभद्र, विशेषावश्यक भाष्य, भाग १, संपा.—दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद, १९६६, प्रस्तावना पृ. ३; मेहता, मो. लाल, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ३, वाराणसी, १९६७, पृ. १३०।

१५. विरजी के. जे., एँशिएण्ट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र, बम्बई, १९५२, पृ. १८१।

१६. कल्याणविजय (संपा.) तपागच्छ पट्टावली, भाग १, भावनगर, १९४०, पृ. ८९।

१७. प्रबन्धचिन्तामणि, हिन्दी अनु.—हजारीप्रसाद द्विवेदी, अहमदाबाद, १९४० पृ. १३३-३४।

१८. विरजी, के. जे., उपर्युक्त, पृ. १८३।

१९. मजमूदार, एम. आर. (संपा.), हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल क्रोनोलाजी आफ गुजरात, भाग १, बड़ौदा, १९६०, पृ. २१२-१३।

२०. सांकलिया, एच. डी., दी आर्कोलाजी आफ गुजरात, बम्बई, १९४१- पृ. १६, २३४।

२१. देव, एस. बी., हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म, पूना, १९५६, पृ. ११०।

२२. शाह, यू. पी., अकोटा ब्रान्जेस, पृ. २९-४०।

२३. अल्टेकर, ए. एस., दी राष्ट्रकूटस् एण्ड देयर टाइम्स, पूना, १९३४, पृ. ३१०।

२४. वही, पृ. ३११-१२।

२५. अल्टेकर, ए. एस., 'सूरत प्लेटस् आफ कर्कराज सुवर्णवर्ष', एपिग्राफी इण्डिका, भाग २१, पृ. १३४ एवं १४४।

२६. जैकोबी, इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ७, एडिनबर्ग, १९१४, पृ. ४७५।

२७. शाह, अकोटा ब्रान्जेस, पृ. ४८-५५।

२८. प्रभाचन्द्र, प्रभावकचरित, गुजराती अनुवाद, पृ. १६५-६७।

२९. जिनसेन, हरिवंशपुराण, संपा.—पन्नालाल, वाराणसी, १९६२, ६६.५२-५३।

३०. प्रभावकचरित, पृ. २५८।

३१. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. १६-१७।

३२. प्रभावकचरित, पृ. २५७-५८।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

३३. मजुमदार, ए. के., चौलुक्यस् आफ गुजरात, बम्बई, १९५६, पृ. ३१० ।
३४. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. २२ ।
३५. द्व्याश्रय काव्य, संपा. कथवटे, ए. वी., बम्बई, १९२१, ७.६४ ।
३६. वही ।
३७. जिनविजय (संपा.), खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह, कलकत्ता, १९३२, पृ. ३ ।
३८. मजुमदार, उपर्युक्त, पृ. ३११ ।
३९. से., सी. बी., जैनिज्म इन गुजरात, बम्बई, १९५३, पृ. ३० ।
४०. देसाई, मो. द., जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. २२७ ।
४१. जिनविजय, गुजरात का जैन धर्म, वाराणसी, १९४९, पृ. २५ ।
४२. प्रभावक चरित, पृ. २७५-८४; प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. ७८-८२ ।
४३. सांकलिया, दी आर्कोलाजी आफ गुजरात, पृ. २२८ ।
४४. द्व्याश्रय काव्य, १५.१६; १५.६३, ८८ ।
४५. प्रभावकचरित, पृ. ३०७; प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. ७७-७८ ।
४६. बूलर, जार्ज, लाइफ आफ हेमचन्द्राचार्य, कलकत्ता, १९३६, पृ. २३ । द्रष्टव्य—पारिख, आर. सी., काव्यानुशासन, खण्ड २, बम्बई, १९३८, प्रस्तावना पृ. १८७ ।
४७. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. ७२ ।
४८. वही, पृ. १०४ ।
४९. द्व्याश्रय काव्य, २०.२२-२३ ।
५०. ओझा, वी. जी., प्राकृत एण्ड संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स, भावनगर, १८९५, पृ. १७२।७३ ।
५१. वही, पृ. २०५-७ ।
५२. द्व्याश्रय काव्य, २०.२७ ।
५३. राजशेखर, प्रबन्धकोश, संपा.—जिनविजय, शांति निकेतन, १९३५, हेमसूरि-प्रबन्ध, ५८; जयसिंह सूरि, कुमारपाल भूपाल चरित, संपा.—क्षान्तिविजयगणि, बम्बई, १९२६, ७.६०९-१० ।
५४. द्व्याश्रयकाव्य, २०.२७-३७ ।
५५. वही, २०.८९ ।
५६. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित, भाग ६, अंग्रेजी अनु.—जान्सन, हे. एम., संपा.—सांडेसरा बी. जे. बड़ौदा, १९६२, पृ. ३१० ।
५७. द्व्याश्रय काव्य, २०.९८-९९ ।
५८. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित, भाग ६, पृ. ३११ ।
५९. प्रभावक चरित, पृ. ३२१-२८ ।
६०. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. १०४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६१. सोमप्रभ, कुमारपाल प्रतिबोध, संपा.—जिनविजय, बम्बई, १९५६, २.२०-२४ ।

६२. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. ११७-१९ ।

६३. जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प, संपा.—जिनविजय, शांतिनिकेतन, १९३४, पृ. ७९; जिनहर्षगणि, वस्तुपाल चरित, संपा.—कीर्तिमुनि, अहमदाबाद, १९४१, १.४४-४८; अरिसिंह, सुकृतसंकीर्तन, संपा.—पुण्यविजय, बम्बई, १९६१, प्रस्तावना, वृ. ८७-८८ ।

६४. सुकृतकीर्तिकल्लोलिन्यादि वस्तुपालप्रशस्ति संग्रह, संपा.—पुण्यविजय, बंबई, १९६१, पृ. ४४ ।

६५. कथवटे ए. वी., कीर्तिकौमुदी, प्रस्तावना, पृ. ५२ ।

६६. सांडेसरा, बी. जे., लिटरेरी सर्कल आफ महामात्य वस्तुपाल, बम्बई, १९५३, पृ. ३८ ।

६७. सर्वानन्दसूरि, जगडूचरित, संपा.—खख्खर, एम. डी. बम्बई, १८९६, ६.१०-६३ ।

६८. वही, ६.६८-१३७ ।

६९. देसाई, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. ४०४-४०५ ।

सान्ध्य महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org